विशेषांक : भारतीय ज्ञान परंपरा
ISSN : 2395-4574
A Multidisciplinary Peer Reviewed Refereed Research Journal

प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा के प्रमुख तत्व

डॉ. नवीन गिडियन
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष – इतिहास
शासकीय स्वशासी कन्या स्नातकोत्तर
उत्कृष्टता महाविद्यालय, सागर (म.प्र.)

भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के चरित्र–निर्माण में शिक्षा को बहुत महत्व दिया। इसके लिए विशेष शिक्षा–प्रणाली और शिक्षणालयों की योजना प्राचीन काल में की गई थी। योग्य गुरुओं की सेवा में रहकर, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्यार्थी, जिनको कि ब्रह्मचारी कहा जाता था, इन शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे। ये शिक्षणालय गुरुकुल के नाम से प्रसिद्ध थे। प्राचीन समय में इन शिक्षणालयों, उनके वातावरण, गुरु–शिष्य सम्बन्ध, विद्यार्थियों का रहन–सहन, अध्यापन के विषय, अध्यापन का तरीका आदि विषयों पर यहाँ विचार करना समुचित होगा।

ज्ञान का महत्व

ज्ञान को प्राप्त करने की दृष्टि से शिक्षा का बहुत महत्व था। ज्ञान ही सर्वोत्तम है। मनुष्य को कर्तव्य–अकर्तव्य का बोध इसी से होता है। गुरु की सेवा में गये बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान ही उसके जीवन का ध्येय है और यह गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।[1]

शिक्षा के द्वारा मनुष्य लौकिक उपयोगिता के तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता है। कर्तव्य और अकर्तव्य को समझकर वह सभी कालों और लोकों को जान लेता है। यह ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान से अधिक पवित्र वस्तु नहीं है।[2] ज्ञान को प्राप्त करने वाले मनुष्य देवता कहे गए हैं।[3] विद्वान् मनुष्य ही संसार में आदर पाता है। विद्या प्राप्त करने वाला स्नातक इस पृथ्वी पर अतिशय शोभित होता है।[4] तीन ऋणों से मुक्ति ज्ञान का अर्जन करके ही होती है[5]। स्नातक सबसे अधिक सम्माननीय है।[6] विद्या को प्राप्त करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में स्थान पाता है।[7]

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य का पालन और अध्ययन, धर्म के अंग माने गये थे। यज्ञ, अध्ययन तथा दान, ये तीन धर्म के आधार थे। वेदों का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य था। वेदों का अध्ययन न करके अन्यत्र श्रम करने वाले को शूद्र समझा जाता था।[8]

विद्यार्थी का गुरु की सेवा में

विद्याध्ययन के योग्य हो जाने पर बालक को गुरु (आचार्य) की सेवा में लगाया जाता था। इस समय आचार्य उपनयन संस्कार करके उस बालक को शिष्य के रूप में ग्रहण करता था। यह समझा गया था कि इस संस्कार द्वारा आचार्य उस बालक को अपने गर्भ में धारण करता है।[9] सभी वर्णों के बालक, चाहे वे धनी हों या निर्धन हों, उपनीत होकर गुरुकुलों में निवास करते थे। वे ब्रह्मचारी कहलाते थे। उनके भरण–पोषण और अध्ययन का उत्तरदायित्व आचार्य का था।

शिक्षा का प्रारम्भ

उपनयन संस्कार के साथ ही या उसके अनन्तर एक शुभ दिन वेदारम्भ संस्कार किया जाता था। बालक का अध्ययन इस समय से प्रारम्भ हो जाता था। इस संस्कार को 'अक्षरस्वीकरणम्' भी कहा गया है।[10] क्योंकि ज्ञान ही वेद है तथा वैदिक संहिताओं का अध्ययन अनिवार्य था, अतः इस संस्कार को वेदाध्ययन कहते थे।

प्राचीन परम्पराओं से विदित होता है कि इस संस्कार का आयोजन कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की द्वादशी से लेकर आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी तक शुभ नक्षत्र, तिथि और दिवस में किया जाता था। इसमें देवी सरस्वती का और उसके साथ ही हरि, लक्ष्मी और सूत्रकारों का पूजन होता था। अक्षरज्ञान को प्रारम्भ करने के साथ ही अन्य उपयोगी विषय भी पढ़ाये जाते थे।[11] छात्र को वेदत्रयी का ज्ञान कराया जाता था।

वेदारम्भ संस्कार के अनन्तर बालक को ब्रह्मचारी के चिह्न–मृगचर्म, मेखला, यज्ञोपवीत, दण्ड आदि धारण करने का आदेश मिलता था। अध्ययन के विषय ब्रह्मचारी के सामर्थ्य, योग्यता और मनोवृत्ति के अनुसार निर्धारित होते थे। अध्ययन की अवधि प्रायः 24–25 वर्ष की आयु तक रहती थी। कुछ विद्यार्थी पूरी आयु तक विवाह न करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करते रहते थे। गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करके, समावर्तन संस्कार होने पर विद्यार्थी स्नातक कहलाते थे। इस समय आचार्य को गुरु–दक्षिणा अर्पित की जाती थी। आचार्य से अनुमति पाकर छात्र अपने घरों को वापस जाते थे।

आचार्य

प्राचीन साहित्य में आचार्य की और गुरु की योग्यता का विस्तृत विवरण मिलता है। आचार्य का अर्थ है – "आचार्यः अस्मादाचारं ग्राह्यत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा।"[12] अर्थात् शिष्य, जिस व्यक्ति से आचार को, अर्थों को, बुद्धि को ग्रहण करता है, वह आचार्य है अथवा – "यस्माद् धर्ममाचिनाति स आचार्यः।"[13] शिष्य जिससे धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है, वह आचार्य है।

आचार्य या गुरु की योग्यता

आचार्य और गुरु को अपने विषय का प्रकाण्ड पण्डित होना चाहिए। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार शिक्षक अपने विषय का प्रकण्ड होता है। वह वंशपरम्परागत होता है। वह धर्म के पालन को अपना कर्तव्य समझता है।[14] आचार्य केवल एक ही विषय नहीं, अपितु अनेक विषयों का

ज्ञाता होता है। ज्ञान के अभिलाषी छात्र उसको घेरे रहते हैं। विशेषज्ञ होने के साथ ही गुरु को अपने विषय का प्रतिपादन करने में भी समर्थ होना चाहिए। गुरु की वाणी उपदेश देने में कुशल होनी चाहिये।

आचार्य के नैतिक गुणों को बहुत महत्व दिया गया था। उसको सत्यवक्ता, धैर्यशाली, विद्या में पारंगत, दयालु, आस्तिक, पवित्र आचरण वाला, स्वाध्यायशील और जितेन्द्रिय होना चाहिये। आचार्य के लक्षण हैं – प्रौढ, लोभ से रहित, दम्भ न करने वाला, विनम्र और मृदु भाषी।[15]

आचार्य को पक्षपात से रहित होना चाहिए। सब शिष्यों को सम दृष्टि से देखकर समान रूप से विद्या प्रदान करनी चाहिए। अनुशासन के प्रति आचार्य को सावधान रहना चाहिये। आचार्य, शिष्यों को ऐहलौकिक और पारलौकिक परम्पराओं के विरुद्ध कार्यों से रोकता है। आचार्य को शिष्यों पर सहज स्नेह होना चाहिये। शिष्यों की योग्यता देखकर उसे प्रसन्न होना चाहिए, परन्तु गलत मार्ग पर चलने वाले शिष्य पर अंकुश रखना भी गुरु का कर्तव्य है।

प्राचीन साहित्य के अवलोकन से प्रतीत होता है कि आचार्य प्रभूत धन से सम्पन्न होते थे। शिष्यों से विद्या का शुल्क लेना निन्दनीय समझा जाता था। वे शिष्यों के अध्ययन के साथ ही भरण–पोषण के लिए भी उत्तरदायी होते थे, अतः उनका धनसम्पन्न होना अनिवार्य था। जो आचार्य, दस हजार विद्यार्थियों को भोजन–वस्त्र प्रदान करने तथा अध्ययन कराने की सामर्थ्य रखते थे, वे कुलपति कहलाते थे।[16] वसिष्ठ, भारद्वाज, वाल्मीकि, कण्व आदि आचार्य तपस्वी होते हुए भी धनसम्पन्न थे और हजारों अतिथियों का आतिथ्य करने में समर्थ थे। 'बृहदारण्यक उपनिषद' में आचार्य आरुणि अपनी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं – मेरे पास स्वर्ण, गायें, घोड़े, दासियाँ, कम्बल और वस्त्र पर्याप्त संख्या में हैं।[17] 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में भगवान से आचार्य प्रार्थना करते हैं – मेरे घर में वस्त्र, अन्न–पान, रोयें वाली भेड़ें और अन्य पशुओं को लाने वाली लक्ष्मी आवे।[18]

आचार्य का सम्मान

समाज में गुरुओं को, आचार्यों को बहुत सम्मान दिया था।[19] राजा भी इनका आदर करते थे। इनका आदेश अनुल्लंघनीय था। ऊँचे पद और अधिकार पर रहते हुए भी आचार्य अपने अध्ययन के कार्य को नहीं छोड़ते थे। 'मुद्राराक्षस' के कौटिल्य ऐसे ही आचार्य थे। प्रधान मन्त्रि के पद पर रहते हुए भी और एक साम्राज्य का निर्माण करके भी उन्होंने राजकीय वैभव को स्वीकार नहीं किया और अपनी पर्णकुटीर में छात्रों को पढ़ाते रहे। इनकी विभूति का वर्णन इस प्रकार है –

राजाओं के भी अधिराज मन्त्रि की यह विभूति है – यह उपलों को तोड़ने वाला पत्थर का टुकड़ा है, यह विद्यार्थियों द्वारा लाया गया कुशाओं का ढेर है, यह सूखती समिधाओं से झुकी छत के किनारे वाला, पुरानी दीवारों का घर भी दिखाई देता है।[20]

भवभूति ने विश्वामित्र के गुणों का वर्णन किया है – वे मानो चतुर्थ अग्नि, पन्चम वेद, गतिशील धर्म और सभी विद्याओं के निधान हैं। इनसे वार्ता करने पर तमोगुण का विनाश होकर अन्तः करण को शान्ति मिलती है। प्रसन्नचित्त होकर वे जो कुछ कह देते हैं, वह सत्य हो जाता है। वह अनन्त फल देने वाला है।[21]

शिक्षकों का वर्गीकरण

प्राचीन साहित्य में शिक्षक के लिए मुख्यतः तीन पदों का प्रयोग हुआ है – कुलपति, गुरु, आचार्य और उपाध्याय।

कुलपति पद की व्याख्या की जा चुकी है। गुरु पद का अर्थ बहुत व्यापक है। उत्तम गुणों से गौरवान्वित किसी भी व्यक्ति को गुरु कहा जा सकता है। पूजनीय सम्बन्धियों को भी गुरु कह देते थे। सबसे अधिक आदरणीय और गौरवास्पद शिक्षक था, अतः उसको गुरु कहा गया। याज्ञवल्क्य का कथन है कि धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करके वेदों का ज्ञान कराने वाला गुरु है।[22] कुलविशेष के गुरु को कुलगुरु कहते थे। इक्ष्वाकुवंशियों के कुलगुरु वसिष्ठ थे।

शिक्षक के लिए सामान्यतः आचार्य और उपाध्याय पदों का प्रयोग हुआ है। ये दोनों पद सम्भवतः भिन्न ही रहे थे। उपाध्याय की अपेक्षा आचार्य को अधिक सम्मान दिया गया था। आचार्य का कार्य केवल विद्या का अध्यापन ही नहीं था, वह श्रेष्ठ आचार (आचरण) को, बुद्धि को और अर्थों को ग्रहण कराता है।[23] आचार्य से शिष्य धर्म का ज्ञान प्राप्त करता है।[24] मनु का कथन है कि आचार्य शिष्य का उपनयन कराके कल्प तथा रहस्य–सहित, वेदों का उपदेश करता है।[25] गौतम, वसिष्ठ, विष्णु आदि शास्त्रकारों ने आचार्य पद के इस अर्थ का प्रतिपादन किया है।

उपाध्याय का पद आचार्य की अपेक्षा निम्न था। वह शुल्क लेकर विद्या का अध्ययन कराता था। आचार्य शुल्क नहीं लेते थे। मनु ने दो प्रकार के शिक्षक कहे हैं – शुल्क लेने वाले और न लेने वाले। जो शिक्षक वेद के एक अंश या वेदांगों का अध्ययन कराता है और इस कार्य के लिए शुल्क लेता है, वह उपाध्याय है।[26] जबकि आचार्य शुल्क नहीं लेते थे।

उपाध्याय की अपेक्षा आचार्य का गौरव अधिक था। वे शिष्यों को वेदों का अध्ययन कराते थे। 'महाभारत' के अनुसार शुल्क लेकर वेदों का अध्ययन कराना निन्दनीय है।[27] 'गौतम धर्मसूत्र' के अनुसार आचार्य सभी गुरुओं का भी गुरु है और गुरुओं का प्रमुख है।[28] 'विष्णुस्मृति' आचार्य को अतिगुरु कहती है।[29]

आचार्य और शिष्य के सम्बन्ध

ज्ञान को प्राप्त करने के लिए गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है।30 शिष्य को चाहिए कि वह समित्पाणि होकर आचार्य की सेवा में उपस्थित हो।[31]

भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अति पवित्र माना गया है। यह गौरव पूर्ण और मधुर है। आचार्य शिष्यों के प्रति स्
रखते हैं और उनको सब प्रकार से योग्य बनाने का प्रयत्न करते हैं। आचार्य की सेवा करना और उनके आदेशों का पालन करना शिष्य भी अप
कर्तव्य समझते हैं। शिक्षण के क्षेत्र में आचार्य उनके पितृतुल्य होते हैं। उत्तराधिकार में वे अपना समस्त ज्ञान शिष्यों को देते हैं।[32] सम्बन्ध
घनिष्ठता के कारण आचार्य को माता भी माना गया। शिक्षण–काल में शिष्य, आचार्य के गर्भ में रहता है।[33]

शिष्यों का आचार्य के प्रति अति विनीत एवं आदरपूर्ण व्यवहार होता था। वे आश्रम का सारा कार्य करते थे। गुरु के लिए आसन बिछा
अभ्यागतों का स्वागत करना आदि शिष्यों के कार्य थे। गुरु का निरादर करना महान् पाप था। गुरुद्रोही की निन्दा की गई है। गुरु का अपम
यदि कोई दूसरा भी करता है, तो शिष्य उसको सहन नहीं कर सकता। गुरु की निन्दा महान् पाप है जो गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं
उनको अपमानित करते हैं, उनका हृदय लज्जा से फट जाना चाहिये।[34]

अनुशासन

आचार्य का शिष्यों के प्रति स्नेह का व्यवहार था। वे प्रायः कठोरता का व्यवहार नहीं करते थे। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार आचार्य
चाहिये कि शिष्य के प्रति स्नेह का व्यवहार करे, उसे सारी विद्यायें पढ़ावे और कुछ भी न छिपावे, परन्तु स्नेह के व्यवहार का यह अर्थ नहीं है
शिष्य उद्दण्ड हो जावे। शिष्य को सुधारने के लिए, आचार्य उसको कठोर दण्ड दे सकता था। मनु ने आचार्य के लिए कहा है कि वह शिष्य
प्रति मधुर व्यवहार करे।[35]

शिक्षा–शुल्क

शिष्यों से शुल्क लेना सामान्यतः निन्दनीय माना जाता था। आचार्य–कुल में शिष्य निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते थे और निःशुल्क
भरण–पोषण पाते थे, परन्तु शिक्षा के समाप्त होने पर वे यथासम्भव गुरु–दक्षिणा देते थे। मनु का कथन है कि शिक्षा की अवधि में छात्र, आच
को कुछ न दे, परन्तु स्नातक होते समय गुरु द्वारा उपदिष्ट वस्तु भूमि–स्वर्ण–गौ–घोड़ा–छत्र–उपानह–आसन–धान्य–शाक–वस्त्र आदि दे।

विद्याध्ययन के समय विद्यार्थी गुरु के घर और आश्रम का कार्य करते थे, परन्तु कालान्तर में दो प्रकार के शिष्य होने लगे। एक तो वे,
धन–सम्पन्न होते थे तथा शुल्क देकर विद्याध्ययन करते थे और दूसरे निर्धन थे जो गुरु की सेवा करके शुल्क को पूरा करते थे। जब
धनोपार्जन करते थे तो गुरु की सेवा में धन भेजते थे। 'महाबग्ग' की एक कथा के अनुसार प्रसिद्ध वैद्य जीवक ने तक्षशिला में सात वर्ष त
आयुर्वेद का अध्ययन किया था। उसके गुरु आयुर्वेदाचार्य ने उसका भरण पोषण किया और वापस लौटने के लिए मार्ग–व्यय भी दिय
धनोपार्जन करके जीवक ने प्रचुर धन आचार्य की सेवा में अर्पित किया।[37]

यद्यपि आचार्य शिष्यों के लिए अत्यधिक आदरणीय थे तथापि गुरु को गुणी और गौरवशाली होना चाहिये। गुरु के उद्धृत हो
कार्य–अकार्य को न जानने और कुमार्गगामी होने पर शिष्य को उसका परित्याग कर देना चाहिये।[38]

संदर्भः–

1. अज्ञो वा यदि वा विपर्यय उत ज्ञानो थसन्देहभृद्।
   दृष्टादृष्टविरोधि कर्म कुरुते यस्तस्य गोप्ता गुरुः। – महावीरचरित 3.55
2. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। – भगवद्गीता 4.38
3. विद्वांसो हि देवाः। – शतपथ ब्राह्मण 3.7.3.10
   ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो नूचानांस्ते मनुष्येषु देवाः। – शतपथ ब्राह्मण 2.2.2.6
   एते देवा यत् प्रत्यक्षं ब्राह्मणाः। – तैत्तिरीय संहिता 1.7.3.1
4. अथर्ववेद 11.5.26
5. तैत्तिरीय संहिता 6.3.10.5
6. मनुस्मृति 2.119,2.139
7. ईशोपनिषद् 11, – केनोपनिषद् 4.9, बृहदारण्यक उपनिषद् 1.5.16
8. यो नधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
   स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। – मनुस्मृति 2.168
9. आचार्य उपनयमानो कृणुते ब्रह्मचारिणं गर्भमन्तः।
   तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। – अथर्ववेद 11.5.3
11. स्मृतिचन्द्रिका – मैसूर संस्करण, पृ. 66–67

12. निरुक्त 1.4
13. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.1.1.14
14. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.1.1.12–17
15. मतस्यपुराण 145.28
16. मुनीनां दशसाहस्रं योन्नदानादिपोषणात्।
    अध्यापयति विप्रर्षेरसौ कुलपतिः स्मृतः।।
17. बृहदारण्यक उपनिषद् 6.2.7
18. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.7
19. पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
    प्रज्ञां ददाति आचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्येते।। – रामायण, अयोध्याकाण्ड, 111.3
20. मुद्राराक्षस 3.15
21. महावीरचरितम् 1.10–12
22. स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति। – याज्ञवल्क्य स्मृति 1.34
23. आचार्यः, अस्मादाचारं ग्राह्यत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा। – निरुक्त 1.4
24. यस्माद्धर्ममाचिनोति स आचार्यः। – आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.1.1.14
25. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
    संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते।। – मनुस्मृति 2.140
26. एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि यः पुनः।
    यो ष्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।। – मनुस्मृति 2.141
27. महाभारत, शान्तिपर्व 34.6
28. गौतम धर्मसूत्र 2.5
29. विष्णुस्मृति 16.1–2
30. कठोपनिषद् 2.8
31. मुण्डकोपनिषद् 1.2.3
32. बालरामायण पृ. 164
33. अथर्ववेद 1.5.3
34. ये सत्यमेव हि गुरुनतिपातयन्ति।
    तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा।। – मुद्राराक्षस 3.33
35. मनुस्मृति 2.159
36. मनुस्मृति 2.245–246
37. महाबग्ग 8.6–8
38. बालरामायण 4.3